भाद्र शुक्ल ३, रविवार, दिनांक : २-९-१९६२
काव्य - ३२ से ४०, प्रवचन नं.-०७

काव्य ३२

स्तुत्या परं नाभिमतं हि भक्त्या
स्मृत्या प्रणत्या च ततो भजामि।
स्मरामि देवं! प्रणमामि नित्यम्,
केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम्॥

किन्तु न केवल स्तुति करने से, मिलता है निज अभिमत फल।
इससे प्रभु को भक्तिभाव से, भजता हूँ प्रतिदिन, प्रतिपल॥
स्मृति करके सुमिरन करता हूँ, पुनि विनम्र हो नमता हूँ।
किसी यत्न से भी अभीष्ट-साधन की इच्छा रखता हूँ॥

अन्वयार्थ — (स्तुत्या हि) स्तुति के द्वारा ही (अभिमतम् न) इच्छित वस्तु की सिद्धि नहीं होती (परम्) किन्तु (भक्त्या स्मृत्या च प्रणत्या) भक्ति, स्मृति, और नमस्कृति से भी होती है; (ततः) इसलिए मैं (नित्यम्) हमेशा (देवम् भजामि, स्मरामि, प्रणमामि) आपकी भक्ति करता हूँ, आपका स्मरण करता हूँ, आपको प्रणाम करता हूँ (हि) क्योंकि (फलम्) इच्छित वस्तु की प्राप्तिरूप फल को (केन अपि उपायेन) किसी भी उपाय से (साध्यम्) सिद्ध कर लेना चाहिए।

भावार्थ — हे भगवन्! आपकी स्तुति से, भक्ति से, स्मृति-ध्यान से और प्रणति से जीवों को इच्छित फलों की प्राप्ति होती है; इसलिए मैं प्रतिदिन आपकी स्तुति करता हूँ, भक्ति करता हूँ, ध्यान करता हूँ और नमस्कार करता हूँ क्योंकि मुझे जैसे बने, वैसे अपना कार्य सिद्ध करना है।

यह विषापहार नाम का स्तोत्र है। धनंजय महाकवि हुए हैं, उन्होंने यह एक विषापहार स्तोत्र बनाया है। उनके पुत्र को सर्प ने डसा था। सुनी है न बात? धनंजय कवि के पुत्र को सर्प डसा था, सर्प उसको भगवान के पास ले जाकर डाला और अपने

में अन्दर आत्मा में विचारधारा में विषापहार स्तोत्र रच गया। उसमें सहज ऐसा निमित्त मिल गया कि उसका भी सर्पडंस का (विष) उतर गया और अपने में भी राग-द्वेष, अपने स्वभाव की साधन की भक्ति में भगवान की भक्ति अर्थात् अपने स्वभाव की भक्ति। भगवान की भक्ति व्यवहार से विकल्प से हो तो पुण्यबन्ध का कारण है। परन्तु अन्तर में चैतन्य महाप्रभु की अन्तर में राग-द्वेष और पुण्य-पाप के विकल्प से रहित अन्तर में जो धुन लगाते हैं, अन्दर श्रद्धा-ज्ञान (पूर्वक), वे आत्मा की—भगवान की वास्तव में भक्ति कही जाती है। वह भक्ति की है। बाहर में भगवान की भक्ति व्यवहार से कही जाती है। ३१ गाथा हो गयी।

काव्य - ३२ पर प्रवचन

३२वाँ बोलो।

स्तुत्या परं नाभिमतं हि भक्त्या
स्मृत्या प्रणत्या च ततो भजामि।
स्मरामि देवं! प्रणमामि नित्यम्,
केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम्॥

किन्तु न केवल स्तुति करने से, मिलता है निज अभिमत फल।
इससे प्रभु को भक्तिभाव से, भजता हूँ प्रतिदिन, प्रतिपल॥
स्मृति करके सुमिरन करता हूँ, पुनि विनम्र हो नमता हूँ।
किसी यत्न से भी अभीष्ट-साधन की इच्छा रखता हूँ॥

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ ऋषभदेव भगवान की स्तुति करते हैं तो उसमें अपनी स्तुति साथ में आ गयी है। हे भगवान! ओ परमात्मा! सर्वज्ञदेव जिनपति! गणधरादि के भी आप पति-महास्वामी हो और अपने आत्मा में भी कहते हैं कि हे आत्मा! अपनी निर्मल पर्याय जो प्रगट हुई, उसके भी स्वामी तुम चिद्घन ध्रुवस्वभाव वह स्वामी है। समझ में आया? ....भाई! क्या नहीं समझ में आया?

भगवान को लक्ष्य करके ऐसा कहते हैं कि आप जिनपति हो। जिन अर्थात्

गणधर सन्तों के आप स्वामी हो। वह व्यवहार से। अपने आत्मा में अपनी शुद्ध श्रद्धा विकार से रहित आपने आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और लीनता ऐसी अपनी जो प्रज्ञा— पर्याय, उसका चिद्घन ध्रुव चैतन्यमूर्ति, अनादि-अनन्त आत्मा, उस प्रजा का वह स्वामी है। नरभेरामभाई! कौन सी प्रजा? आहाहा! अपना शुद्ध चैतन्यप्रभु अनादि-अनन्त अकारणीय अहेतु ध्रुव चैतन्यप्रभु कारणप्रभु अनादि-अनन्त वस्तु! उसके आश्रय से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उस पर्याय का स्वामी चैतन्यघन द्रव्यस्वभाव है। नवनीतभाई! उस अनुसार यहाँ स्तुति करते हैं।

अन्वयार्थ :- स्तुति के द्वारा ही इच्छित वस्तु की सिद्धि नहीं होती.... प्रभु! अकेली स्तुति के द्वारा अभिलाषित वस्तु की प्राप्ति, अकेले से नहीं होती। **किन्तु भक्ति, स्मृति, और नमस्कृति....** आपके स्वरूप को समझकर, उसमें भक्ति अर्थात् अन्तर का भजन करना और उसको स्मृति में लाना। अपना शुद्ध स्वभाव या सर्वज्ञ परमात्मा का स्वभाव, अन्तर में स्मृति में लाना। समझ में आया? **और नमस्कृति....** नमःकृति। चैतन्य का आदर करके विकार और संयोग का आदर न करना और सच्चिदानन्द प्रभु अपना शुद्ध धातु आनन्दकन्द, उसका नमस्कृत अर्थात् आदर करके अन्दर में लीन होना, उसका नाम नमस्कृति कहा जाता है।

मुमुक्षु : शरीर की क्रिया से नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर की क्रिया जड़ है। वह कहाँ क्रिया है? वह तो मिट्टी चमड़ी है, अजीवतत्त्व है। उसकी क्रिया से तो कोई पुण्य भी नहीं होता, उसकी क्रिया से तो पाप भी नहीं होता, उसकी क्रिया से कोई संवर, निर्जरा धर्म भी नहीं होता। कहाँ गये तुम्हारे शोभालालजी? आये हैं? कहाँ हैं? नहीं। बहुत दूर से आये हैं तो समीप बैठना चाहिए न? आओ, यहाँ सेठ के पास। यह भक्ति चलती है।

मुमुक्षु : भगवान की?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान की।

अपना आत्मा पूर्णानन्द से भरा सर्वज्ञस्वभाव आनन्द से भरा पड़ा है, वस्तुस्वभाव। इतनी स्तुतिमात्र से प्रभु, अपनी पर्याय में निर्मल शान्ति प्राप्त नहीं होती। परन्तु उसकी

भक्ति—भजन अन्दर में करना। अरे! निर्विकल्प चैतन्यप्रभु वीतरागस्वभाव भरा पड़ा है, उसकी अन्दर एकाग्रता होकर भक्ति करना, ऐसे चैतन्य को स्मृति में अन्दर में लाना और विकार का विस्मरण हो जाना, उसका नाम भगवान की और आत्मा की भक्ति कहने में आता है। भारी कठिन जीव को। सेठ! यहाँ ऐसी बात है। सेठी! भगवान की बाहर की भक्ति कहाँ गयी? वह तो विकल्प आता है, शुभभाव होता है, हो। साथ में है, विकल्प उठा है न? परन्तु उसके पीछे अपना शुद्ध निर्मलानन्द प्रभु आत्मा के अन्तर में घुसकर दृष्टि, ज्ञान और एकता (करना), उसको भगवान की स्तुति कही जाती है, उसको भक्ति कहा जाता है। उसको स्मरण में लाना। मैं पूर्ण ब्रह्म आनन्दस्वरूप हूँ, ऐसा स्मरण में लाना और पुण्य-पाप का विस्मरण हो जाना, इसका नाम भगवान की स्मृति और नमस्कृति है। उसका नाम भगवान की नमस्कृति—नमस्कार किया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! गजब भाई! यह व्यवहार तो कहाँ जाये? व्यवहार हो, जाननेयोग्य वह चीज़ उत्पन्न होती है। ज्ञेय रूप से व्यवहार आता है। परन्तु वह अपना परमार्थ चैतन्य में यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान, भक्ति बिना, वह तो अकेले पुण्यबन्ध का ही कारण है। समझ में आया?

कहते हैं, हे प्रभु! **इसलिए मैं हमेशा आपकी भक्ति करता हूँ,....** निर्विकल्प आनन्द की ओर मेरा चौबीसों घण्टे अन्तर रटन रहता है। है न हमेशा? हमेशा मुख्य चैतन्यप्रभु अखण्ड आनन्द का नाथ, उसका मुझे बारम्बार स्मरण आता है। और प्रभु! दूसरे प्रभु का भी मुझे विस्मरण हो जाता है। समझ में आया? **आपकी भक्ति करता हूँ, आपका स्मरण करता हूँ, आपको प्रणाम करता हूँ क्योंकि इच्छित वस्तु की प्राप्तिरूप फल को किसी भी उपाय से सिद्ध कर लेना चाहिए।** अर्थात् कि किसी भी उपाय से भगवान परमात्मा की भक्ति करते हुए, अपने अन्तर स्वरूप में भक्ति हो जाना, उस उपाय से आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है। समझ में आया? अकेली बाह्य (नहीं), चैतन्य की भक्ति कहते हैं।

चैतन्य अनादि-अनन्त ध्रुव धातु परमानन्द की मूर्ति द्रव्यस्वभाव की एकाग्रता करना, वह स्मृति, भक्ति और नमस्कृति कहा जाता है। बाहर से भगवान की भक्ति,

स्तुति, शुभ विकल्प है तो पुण्यबन्ध का कारण है। परमार्थ से इस भक्ति के बिना वह पुण्य तो मात्र पापानुबन्धी पुण्य है।

भावार्थ :- हे भगवन्! आपकी स्तुति से, भक्ति से, स्मृति-ध्यान से और प्रणति से.... प्रणति अर्थात् नमस्कार। **जीवों को इच्छित फलों की प्राप्ति होती है; इसलिए मैं प्रतिदिन आपकी स्तुति करता हूँ, भक्ति करता हूँ, ध्यान करता हूँ और नमस्कार करता हूँ क्योंकि मुझे जैसे बने, वैसे अपना....** स्वरूप कारणपरमात्मा, जो अपना स्वभाव, उसमें किसी भी रीति से प्रयत्न करके, ध्यान करके, श्रद्धा करके अपने में रहना, उससे अभिमत अर्थात् अभिलाषित फल की प्राप्ति होती है। उसमें मोक्ष की प्राप्ति होती है, दूसरे से होती नहीं।

काव्य ३३

ततस्त्रिलोकीनगराधिदेवं,
नित्यं परं ज्योतिरनन्तशक्तिम्।
अपुण्यपापं परपुण्यहेतुं,
नमाम्यहं वन्द्यमवन्दितारम्॥

इसीलिए शाश्वत तेजोमय, शक्ति अनन्तवन्त अभिराम।
पुण्य-पाप विन परमपुण्य के, कारण परमोतम गुणधाम॥
वन्दनीय, पर जो न और की, करे वन्दना कभी मुनीश।
ऐसे त्रिभुवन-नगर-नाथ को, करता हूँ प्रणाम धर शीश॥

अन्वयार्थ — (ततः) इसलिए (अहम्) मैं (त्रिलोकी-नगराधिदेवम्) तीन लोकरूप नगर के अधिपति, (नित्यम्) विनाशरहित, (परम्) श्रेष्ठ, (ज्योतिः) ज्ञानज्योतिस्वरूप, (अनन्त-शक्तिम्) अनन्त वीर्य से सहित, (अपुण्यपापम्) स्वयं पुण्य और पाप से रहित होकर भी (परपुण्यहेतुम्) दूसरे के पुण्य में कारण तथा (वन्द्यम्) वन्दना करने के योग्य होकर भी स्वयं (अविन्दतारम्) किसी को नहीं वन्दनेवाले (भवन्तम्) आपको (नमामि) नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ — हे भगवन्! आप तीनलोक के स्वामी हैं; आपका कभी विनाश नहीं होता; आप सर्वोत्कृष्ट हैं; केवलज्ञानरूप ज्योति से प्रकाशमान हैं; आपमें अनन्त बल है; आप स्वयं पुण्य-पाप से रहित हैं, पर अपने भक्तजनों के पुण्यबन्ध में निमित्तकारण हैं; आप किसी को नमस्कार नहीं करते, पर सब लोग आपको नमस्कार करते हैं; आपकी इन विचित्रताओं से मुग्ध होकर, मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

काव्य - ३३ पर प्रवचन

३३ (श्लोक)।

ततस्त्रिलोकीनगराधिदेवं,
नित्यं परं ज्योतिरनन्तशक्तिम्।
अपुण्यपापं परपुण्यहेतुं,
नमाम्यहं वन्द्यमवन्दितारम्॥

इसीलिए शाश्वत तेजोमय, शक्ति अनन्तवन्त अभिराम।
पुण्य-पाप विन परमपुण्य के, कारण परमोतम गुणधाम॥
वन्दनीय, पर जो न और की, करे वन्दना कभी मुनीश।
ऐसे त्रिभुवन-नगर-नाथ को, करता हूँ प्रणाम धर शीश॥

देखो! आत्मा की स्तुति और भगवान की स्तुति के दो प्रकार साथ में चलते हैं। कहते हैं, **अन्वयार्थ :- इसलिए मैं तीन लोकरूप नगर के अधिपति,....** भाई! ऐसा कहा। देखो! **'त्रिलोकी-नगराधिदेवम्'** हे परमात्मा! तीन लोकरूप नगर के आप अधिपति हो। तीन लोक और तीन काल का ज्ञान आपको एक समय में प्रगट हो गया है तो इस अपेक्षा से भगवान! तीन लोकरूप नगर के आप अधिपति हो। समझ में आया? तीन काल-तीन लोक अपने भगवान की ज्ञान की पर्याय में आ गये तो तीन काल, तीन लोक नगर के स्वामी भगवान हैं। भगवान का हुकम चलता है। सर्व द्रव्य की पर्याय चलने में, द्रव्य-गुण रहने में भगवान की आज्ञा चलती है। जैसा भगवान ने देखा, ऐसी उसमें पर्याय होती है। यह सवेरे आया था न? सेठ प्रसन्न हुए थे न उसमें।

'जो जो देखी वीतराग ने...' सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ नगराधिपति तीन लोक के नगर के स्वामी, तीन काल-तीन लोक का ज्ञान आपकी पर्याय में आ गया है। हे नाथ! आपकी मैं स्तुति करता हूँ।

'नित्यम्' विनाशरहित.... हो। आप तो नित्य विनाशरहित हो। अन्तर में देखो तो आत्मा का द्रव्य का स्वभाव तीन काल-तीन लोक देखने का है तो इस अपेक्षा से आत्मा भी तीन लोकरूपी नगर का स्वामी है। तीन लोकरूप नगर का स्वामी भगवान आत्मा है। प्रत्येक आत्मा। आत्मा में तीन काल-तीन लोक जानने-देखने की शक्ति पड़ी है, इस अपेक्षा से आत्मा ही तीन लोकरूप नगर का अधिपति है। समझ में आया?

हे नाथ! **तीन लोकरूप नगर के अधिपति,....** और आप **विनाशरहित....** हैं। भगवान को भी कहते हैं। आपकी केवलज्ञान पर्याय प्रगट हुई, (वह) नाश नहीं होती। चार गति में तो सर्वार्थसिद्धि का भी (भव) मिले, फिर नाश होता है। प्रभु! आपको अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य नाश नहीं होते। उसी प्रकार मेरे आत्मा में भी नित्यपना, ध्रुवपना, अनन्त आनन्द से भरा पड़ा है, उसका कभी नाश नहीं होता। नरक का भाव हुआ, स्वर्ग का भाव हुआ, ऊपर चाहे जितने विकल्प उठें, परन्तु अन्तर स्वरूप में तो किंचित् भी खण्ड, कमी या दोष नहीं होता। अखण्डानन्द प्रभु पूर्णानन्द से भरा है, उसकी नित्यता की शाश्वतता में कभी अशाश्वतता या अनित्यता नहीं आती। आत्मा की बात चलती है, हों! अन्दर ध्रुव... ध्रुव... ध्रुवस्वरूप त्रिकाल है न!

आप भगवान **श्रेष्ठ, ज्ञानज्योतिस्वरूप,....** हैं। अनन्त ज्ञानस्वरूप हैं। मेरा आत्मा भी मैं अनन्त ज्ञानस्वरूप हूँ। **अनन्त वीर्य से सहित,....** है। अनन्त बल से सहित। परमात्मा! आपको अनन्त वीर्य प्रगट हुआ, आप कृत्यकृत्य हो गये। आपको कुछ करना (बाकी नहीं) रहा। उसी प्रकार मेरा आत्मा भी वस्तु स्वभाव से कृतकृत्य ही है। वस्तु स्वभाव त्रिकाल अखण्डानन्द प्रभु कृतकृत्य है। पर्याय में पुरुषार्थ से पूर्णता प्राप्त करना (बाकी है), वह तो पर्याय में है, वस्तु में तो पूर्णता भरी पड़ी है। ऐसे अपने भगवान आत्मा की भी स्तुति और परमात्मा की भी, दोनों की चलती है।

हे नाथ! आप तो **पुण्य और पाप से रहित होकर भी....** आप में तो पुण्य-पाप दोनों नहीं है। परन्तु आपके भक्त को पुण्य का कारण है। आप में पुण्य-पाप नहीं है। परन्तु आपकी भक्ति करता है, उसको पुण्य का कारण है, भगवान। यह आत्मा अपनी भक्ति करता है तो वह पवित्रता का कारण आत्मा है। समझ में आया? सर्वज्ञ परमात्मा साक्षात् समवसरण में विराजते हों, परन्तु उनकी भक्ति में उनके पास पुण्य-पाप नहीं है, परन्तु भक्तों को पुण्य के भाव में निमित्त कारण हैं। पुण्य के भाव में।

यह आत्मा अपनी निर्मल परिणति का द्रव्य कारण है। परद्रव्य परमात्मा पुण्य का निमित्त है और आत्मा अखण्ड शुद्ध चैतन्यमूर्ति वह निर्मल मोक्षमार्ग का कारण है। आत्मा को पुण्य और पाप का कारण आत्मद्रव्य है नहीं। समझ में आया? सेठी! पुण्य-पाप होता है, हों! परन्तु पुण्य-पाप का कारण द्रव्यस्वभाव नहीं है। वह वर्तमान पर्याय का अपराध है। पुण्य-पाप का भाव होना, वह वर्तमान दशा का अपराध है। निरपराधी आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और वीतरागता उसका, हे नाथ! हे चैतन्यस्वामी! हे महा चैतन्यप्रभु! स्वयं, हों! चैतन्य महाप्रभु ध्रुवस्वभाव पवित्रता का कारण है। आप में पवित्रता पूर्ण पड़ी है, उसमें से पर्याय आती है तो उसका कारण आप हैं, ऐसा अपनी भक्ति और स्तुति करते हैं। कहो, समझ में आया?

वन्दना करने के योग्य होकर भी.... प्रभु! आप वन्दन करने के योग्य हैं, तो भी आप किसी को वन्दन नहीं करते। आप वन्दन करने के योग्य हैं परन्तु आप किसी को वन्दन नहीं करते। भगवान करते हैं किसी को? 'विनयवन्त भगवान कहावे, नहीं किसी को शीश नमावे।' 'विनयवन्त भगवान कहावे' परमात्मा विनयवन्त। पूर्ण नम्रता, नम्रता। अनन्त वीतरागता। 'नहीं किसी को शीश नमावे।' सर्वज्ञ भगवान किसी को वन्दन नहीं करते। इच्छा नहीं है, अल्पज्ञ नहीं है, पूर्ण में वन्दन किसको करना? समझ में आया? दूसरे सम्प्रदाय में ऐसा चलता है कि सर्वज्ञ परमात्मा जब समवसरण में बैठते हैं, तब चार तीर्थ को वन्दना करते हैं। 'नमो तीथस्स'! ऐसा नहीं होता। समझ में आया? दूसरे सम्प्रदाय में। जैन के सम्प्रदाय में ऐसी बात चलती है कि सर्वज्ञ तीर्थंकर जब समवसरण में बैठते हैं, वह तो इन्द्र की रची हुई समवसरण दशा है। यहाँ अपने समवसरण बनाया

है न! सेठ ने देखा? नहीं देखा होगा। अपने यहाँ समवसरण है। देखा? उसमें भगवान है। यहाँ थोड़ा नमूना है, पूरा तो कहाँ (से होगा)?

भगवान वहाँ साक्षात् विराजते हैं। वहाँ तो इन्द्रों ने स्वर्ण का स्तम्भ, मानस्तम्भ सोने का और हीरा-माणिक का रत्न। स्वयं तो वीतराग है। शरीर सिंहासन पर भी नहीं है। निरालम्बी परमात्मदशा,.... थोड़ी बाकी है, अपनी इतनी योग्यता है तो है। वह छूट जायेगा तो सिद्ध हो जायेंगे। समझ में आया? भगवान के समवसरण में, कहते हैं कि प्रभु! आपको इन्द्र, चक्रवर्ती, बाघ और सिंह नमन करते हैं, परन्तु प्रभु! आप किसी को नमन नहीं करते। आपकी विलक्षणता अलग है। कहते हैं न दूसरे लोग? वह वन्दन करे तो कहे, नमोस्तु। तो वह भी सामने नमोस्तु कहे। ऐसा नहीं है। सर्वज्ञ परमात्मा मेमं ऐसा नहीं है।

इसी प्रकार आत्मा शुद्ध द्रव्यस्वभाव को निर्मल पर्याय वन्दन करती है, आदर करती है, परन्तु द्रव्यस्वभाव किसी को वन्दन नहीं करता। समझ में आया? फिर से। भगवान आत्मा का अनुभव श्रद्धा-ज्ञान किया तो पर्याय में वन्दनयोग्य आत्मा है, ऐसा पर्याय में हुआ। परन्तु द्रव्यस्वभाव किसी को वन्दन नहीं करता। सेठी! वह तो पूरा भरा पड़ा है दृष्टि का विषय, सम्यग्दर्शन का विषय। वह द्रव्यस्वभाव किसी को वन्दन नहीं करता। पर्याय में निर्मलता हुई, वह द्रव्यस्वभाव को वन्दन और सत्कार करती है। समझ में आया?

कहते हैं, ओहो! प्रभु! आप किसी को वन्दन नहीं करते।

भावार्थ :- हे भगवन्! आप तीनलोक के स्वामी हैं; आपका कभी विनाश नहीं होता; आप सर्वोत्कृष्ट हैं; केवलज्ञानरूप ज्योति से प्रकाशमान हैं; आपमें अनन्त बल है; आप स्वयं पुण्य-पाप से रहित हैं, पर अपने भक्तजनों के पुण्यबन्ध में निमित्तकारण हैं;.... देखो! पुण्यबन्ध में, हों! भगवान के कारण से धर्म होता है—संवर, निर्जरा, ऐसा नहीं है। आहाहा! लोग ऐसे चिल्लाहट मचा जाते हैं। भगवान की दिव्यध्वनि से भी आत्मा में सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा नहीं है। समझ में आता है कुछ? भगवान तो परद्रव्य है, उनकी वाणी भी जड़ है तो उस पर लक्ष्य करता है, तब तक तो उसको

शुभभाव का पुण्यभाव होता है। सम्यग्दर्शन में वह वास्तव में कारण नहीं है। अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में वास्तविक कारण अपना द्रव्यस्वभाव है। जगत को इतना अभी कठिन पड़ता है। लोग कहे, व्यवहार का लोप (होता है)। अरे! सुन तो सही। तेरा व्यवहार.... व्यवहार आता है, होता है, कौन इनकार करता है? यह क्या है? यह विकल्प उठता है, यह व्याख्यान नहीं है? भगवान की भक्ति (होती है)। परन्तु वह सब राग की—पुण्य की जाति है। उसकी हद और मर्यादा पुण्य जितनी है। उससे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो, (ऐसा) तीन काल में नहीं है।

मुमुक्षु : भगवान की श्रद्धा....

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान की श्रद्धा करने से तो शुभराग होता है। अपना चिदानन्द प्रभु, उसकी श्रद्धा करने से निर्मल पर्याय होती है। बात तो ऐसी है, तीन काल-तीन लोक में। समझ में आया?

प्रभु! **आप किसी को नमस्कार नहीं करते, पर सब लोग आपको नमस्कार करते हैं; आपकी इन विचित्रताओं से मुग्ध होकर, मैं भी आपको नमस्कार करता हूँ।** आपकी यह विचित्रता (देखकर मैं) नम जाता हूँ। प्रभु! मैं आपका दास हूँ। उसी प्रकार अपनी निर्मल पर्याय त्रिकाली द्रव्य की दास है। त्रिकाल चैतन्यद्रव्य की निर्मल पर्याय दास है। मोक्षमार्ग की सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पर्याय प्रगट हुई, वह त्रिकाल द्रव्य की दास है। परन्तु त्रिकाल द्रव्य किसी का दास नहीं है। समझ में आया? यह तो जगत से उलट-पलट की बात है।

काव्य ३४

अशब्दमस्पर्शमरूपगन्धं,
त्वां नीरसं तद्विषयावबोधम्।
सर्वस्य मातारममेयमन्यै-
र्जिनेन्द्रमस्मार्यमनुस्मरामि॥

जो नहिं स्वयं शब्द रस सपरस, अथवा रूप गन्ध कुछ भी।
पर इन सब विषयों के ज्ञाता, जिन्हें केवली कहें सभी॥
सब पदार्थ जो जानें पर न, जान सकता कोई जिनको।
स्मरण में न आ सकते हैं जो, करता हूँ सुमरन उनको॥

अन्वयार्थ — (अशब्दम्) शब्दरहित, (अस्पर्शम्) स्पर्शरहित (अरूपमगन्धम्) रूप और गन्धरहित तथा (नीरसम्) रसरहित होकर भी (तद्विषयावबोधम्) उनके ज्ञान से सहित (सर्वस्य मातारम्) सबके जाननेवाले होकर भी (अन्यैः) दूसरों के द्वारा (अमेयम्) नहीं जानने के योग्य तथा (अस्मार्यम्) जिनका स्मरण नहीं किया जा सकता—ऐसे (जिनेन्द्रम् अनुस्मरामि) जिनेन्द्र भगवान् का प्रतिक्षण स्मरण करता हूँ, ध्यान करता हूँ।

भावार्थ — हे भगवन्! आप रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से रहित हैं, अमूर्तिक हैं; फिर भी रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द को आप जानते हैं। हे प्रभु! आप सबको जानते हैं, पर आपको कोई नहीं जान पाता। यद्यपि आपका मन से भी कोई स्मरण नहीं कर सकता, तथापि मैं अपने बाल-साहस से आपका क्षण-क्षण में स्मरण करता हूँ।

काव्य - ३४ पर प्रवचन

३४ (श्लोक)।

अशब्दमस्पर्शमरूपगन्धं,
त्वां नीरसं तद्विषयावबोधम्।
सर्वस्य मातारममेयमन्यै-
र्जिनेन्द्रमस्मार्यमनुस्मरामि॥

जो नहिं स्वयं शब्द रस सपरस, अथवा रूप गन्ध कुछ भी।
पर इन सब विषयों के ज्ञाता, जिन्हें केवली कहें सभी॥
सब पदार्थ जो जानें पर न, जान सकता कोई जिनको।
स्मरण में न आ सकते हैं जो, करता हूँ सुमरन उनको॥

दोनों में विरुद्ध लिया है। दोनों में विरुद्ध (अलंकार) ही लिया है, विषापहार है न।

अन्वयार्थ :- शब्दरहित,.... प्रभु! आप में शब्द नहीं है। आत्मा में भी शब्द नहीं है। आत्मा में विकल्प नहीं है राग का, भक्ति का, अन्तर स्वरूप में, शब्द तो कहाँ से आया? शब्द आत्मा में है नहीं और भगवान में भी है नहीं। आप शब्दरहित हैं और रूप एवं गन्धरहित हैं और स्पर्शरहित हैं। **रसरहित होकर भी,....** ओहो! आप में स्पर्श, बिल्कुल स्पर्श नहीं है। नहीं है, उसको आप जाननेवाले हैं। क्या कहा, समझ में आया?

आप में शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध, रूप नहीं है। परन्तु नहीं है, उसको आप जाननेवाले हो। उसी प्रकार भगवान आत्मा में शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं है। परन्तु नहीं होने पर भी उसको आत्मा जाननेवाला है। विरुद्ध, विरुद्ध अलंकार है न! समझ में आया? **उनके ज्ञान से सहित सबके जाननेवाले होकर भी....** दूसरा बोल। आप सबके जाननेवाले होकर भी **दूसरों के द्वारा नहीं जानने के योग्य....** आप सबको जानते हैं परन्तु विकल्प द्वारा, मन द्वारा, राग द्वारा, पर द्वारा आत्मा जानने में आवे, ऐसा आत्मा है नहीं। समझ में आया?

भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव सबको जानते हैं, परन्तु सब उनको जान नहीं सकते। उसी प्रकार भगवान आत्मा सबको जाननेवाला आत्मा है, परन्तु उसको विकल्प, राग, निमित्त और पुस्तक-पृष्ठ जान नहीं सकते। अपने निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान द्वारा ही आत्मा जाना जाता है। सेठी! भाई, ... भाई! समझ में आया यह? यह तो अध्यात्म की बात है, भाई! यहाँ तो। अध्यात्म की भक्ति अनन्त काल से इसने सुनी नहीं और इसे रुचि नहीं। बाहर में सब कर-करके मर गया। यह किया और यह किया और यह किया.... समझ में आया? कहीं दो-पाँच-पच्चीस लाख का मन्दिर बनावे तो इसे (ऐसा) हो जाता है कि अपने भव का नाश (हो गया)। धूल में भी नहीं, सुन न अब। समझ में आया? यह तो हमारे नानालालभाई को कहा था न तब? (संवत्) २००६ के वर्ष में। एक पण्डित आया था इन्दौर से। पण्डित आया था। ढाई लाख का मन्दिर। राजकोट में हुआ न, ढाई लाख का मन्दिर (संवत्) २००६ के वर्ष में। उसमें सवा लाख तो उनके परिवार का था। ओहो! सेठ! तुम्हारा तो आठ भव में मोक्ष हो जायेगा।

नानालालभाई ने कहा, महाराज हमको ऐसा नहीं कहते हैं। सवा लाख रुपये तो उसने डाले, ढाई लाख (का मन्दिर) और बड़ा महोत्सव था। पाँच-छह हजार लोग। स्वर्ण का ऊपर (कलश चढ़ाया)। महाराज ऐसा नहीं कहते हैं। महाराज तो कहते हैं, उसमें पुण्यबन्धन हो। समझे? नानालालभाई ने कहा। जन्म-मरण के रहित की बात तो आत्मा में पुण्य के विकल्प से पार की दृष्टि और ज्ञान (हो), वह जन्म-मरण के अन्त का कारण है। बाहर की चीज़ जन्म-मरण के अन्त का कारण नहीं है। भक्तिवन्त को भाव आवे, होवे, परन्तु उससे जन्म-मरण का अन्त हो जाये और सम्यग्दर्शन तथा मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो जाये, (ऐसा) तीन काल में नहीं है। समझ में आया? बहुत गड़बड़ी लगती है उन त्यागी और पण्डित को। अर र र! यह सब ऐसा। परन्तु वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। सुन न! पर के लक्ष्य से और राग के लक्ष्य से आत्मा का कल्याण हो, (ऐसा) तीन काल तीन लोक में नहीं है। निर्विकल्प स्वसंवेदन भगवान आत्मा है। राग से वेदा न जाये—अनुभव में न आवे। राग का आदर करे और चैतन्य का आदर हो जाये, ऐसा नहीं होता।

तो कहते हैं कि हे भगवान! आप **दूसरों के द्वारा नहीं जानने के योग्य तथा जिनका स्मरण नहीं किया जा सकता....** उल्टी बात करते हैं, भाई! आपका स्मरण नहीं किया जाता, ऐसे तो भगवान आप निर्विकल्प अचिन्त्य हो। परन्तु उसका मैं स्मरण करता हूँ। आप किसी के स्मरण में न आ सके, ऐसा मैं आपका स्मरण करता हूँ। ऐसा कहा। विकल्प से स्मरण में नहीं आते, राग से नहीं आते परन्तु मैं स्वसंवेदनज्ञान द्वारा आपकी स्तुति करता हूँ। दुनिया से विरुद्ध बात भगवान आपकी है। समझ में आया? हे भगवान! आप बहुत ही.... वह आया न? नहीं।

भावार्थ :- हे भगवन्! आप रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से रहित हैं, अमूर्तिक हैं;.... फिर भी उन्हें जानते हैं, फिर भी उन्हें जानते हैं। है नहीं अपने में, उसको जानते हैं। **आप सबको जानते हैं, पर आपको कोई नहीं जान पाता। यद्यपि आपका मन से भी कोई स्मरण नहीं कर सकता,....** कल्पना से **तथापि मैं अपने बाल-साहस से....** अपनी ज्ञान की पर्याय में जोर करके, रागरहित होकर में मेरे आत्मा की स्तुति और भक्ति करता हूँ, उसको स्मरण में लाता हूँ। राग से रहित भगवान सच्चिदानन्द

निर्मल, ज्ञानपुंज है, वह विकल्प से चिन्तवन में नहीं आता। परन्तु रागरहित मेरी सम्यक्दशा द्वारा आप मेरे स्मरण में आ जाते हैं। सेठी! भारी कठिन पड़े। बाल जीवों को बेचारों को कुछ.... ऐसे लोग बातें करे कि उसे—बाल जीवों को कुछ धर्म होता है, (ऐसा कहो)। परन्तु धर्म इस रास्ते से ही होता है। दूसरा कोई धर्म का (रास्ता नहीं है)। पहले थोड़ा-थोड़ा धर्म होगा, ऐसा तो बता दो? अरे... भगवान! थोड़ा हो तो थोड़ा में से बहुत होगा। परन्तु थोड़ा धर्म पर से होता नहीं। देह की क्रिया से नहीं, वाणी की क्रिया से नहीं, मन की क्रिया से नहीं और दया, दान, व्रत, भक्ति के राग से भी आत्मा की धर्म की क्रिया होती नहीं। तीन काल-तीन लोक में ऐसी चीज़ है। जिसको जँचे, वह माने; न जँचे वह स्वतन्त्र है। समझ में आया? बात तो ऐसी है। फिर एकान्त कहो, ऐसा मानते हैं, निमित्त को नहीं मानते हैं। सब है, सुन तो सही। निमित्त और व्यवहार गया, ज्ञान के ज्ञेय में। अपने स्वरूप में व्यवहार भी नहीं है और निमित्त भी नहीं है। ऐसी दृष्टि स्मरण करने में आती है, प्रभु! मेरा बाल-साहस है। अर्थात् पहला साहस है। प्रथम का मेरा साहस है। ज्ञान की पर्याय से आपको मैं प्राप्त हुआ हूँ। आपको मैं मिल गया हूँ आपके आत्मा में। राग से आप प्राप्त होते नहीं।

काव्य ३५

अगाधमन्यैर्मनसाप्यलंघ्यं,
निष्किंचनं प्रार्थितमर्थवद्भिः।
विश्वस्य पारं तमदृष्टपारं,
पतिं जिनानां शरणं व्रजामि॥

लंघ्य न औरों के मन से भी, और गूढ़ गहरे अतिशय।
धनविहीन जो स्वयं किन्तु, जिनका करते धनवान विनय॥
जो इस जग के पार गये पर, पाया जाय न जिनका पार।
ऐसे जिनपति के चरणों की, लेता हूँ मैं शरण उदार॥

अन्वयार्थ—(अगाधम्) गम्भीर, (अन्यैः) दूसरों के द्वारा (मनसा अपि अलंघ्यम्) मन से भी उल्लंघन करने के अयोग्य अर्थात् अचिन्त्य, (निष्किंचनम्) निर्धन होने पर भी (अर्थवद्भिः) धनाढ्यों के द्वारा (प्रार्थितम्) याचित, (विश्वस्य पारम्) सबके पारस्वरूप होने पर भी (अदृष्टपारम्) जिनका पार या अन्त कोई नहीं देख सका है—ऐसे (तम् जिनानाम् पतिम्) उन जिनेन्द्रदेव की (शरणम्) शरण को (व्रजामि) प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ — हे भगवन्! आप बहुत ही गम्भीर और धैर्यवान हैं। आपका कोई मन से भी चिन्तवन नहीं कर सकता। यद्यपि आपके पास देने के लिए कुछ भी नहीं है तो भी धनिक लोग (अथवा याचकवर्ग) आपसे याचना करते हैं; आप सबके पार को जानते हैं, पर आपके पार को कोई नहीं जान सकता और आप जगत् के जीवों के प्रतिरक्षक हैं — ऐसा सोचकर मैं भी आपकी शरण में आया हूँ।

काव्य - ३५ पर प्रवचन

३५ (श्लोक)।

अगाधमन्यैर्मनसाप्यलंघ्यं,
निष्किंचनं प्रार्थितमर्थवद्भिः।
विश्वस्य पारं तमदृष्टपारं,
पतिं जिनानां शरणं व्रजामि॥

लंघ्य न औरों के मन से भी, और गूढ़ गहरे अतिशय।
धनविहीन जो स्वयं किन्तु, जिनका करते धनवान विनय॥
जो इस जग के पार गये पर, पाया जाय न जिनका पार।
ऐसे जिनपति के चरणों की, लेता हूँ मैं शरण उदार॥

देखो! दोनों में परस्पर विरुद्ध कहते हैं।

अन्वयार्थ :- गम्भीर,.... हे जिनपति! है न संस्कृत में? 'जिनानां...' हे नाथ! आप गणधर अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना करनेवाले, अन्तर्मुहूर्त में। और अन्तर्मुहूर्त

में चार ज्ञान की प्राप्ति (हुई है), ऐसे गणधर के प्रभु! आप स्वामी हो। उसके भी आप सर्वोत्कृष्ट ईश्वर हो। और मेरा आत्मा भी अपनी निर्मल पर्यायरूपी जो भाव, उसका स्वामी मैं चैतन्य आनन्दकन्द सहजस्वभावी (हूँ)। मेरा ध्रुव स्वभाव, परमानन्दस्वभाव, वह मेरी पर्याय का मेरा स्वामी है।

वो **गम्भीर, दूसरों के द्वारा मन से भी उल्लंघन करने के अयोग्य....** मन से भी अचिन्त्य हैं। और **निर्धन होने पर भी धनाढ्यों के द्वारा याचित,....** नाथ! आपके पास कुछ नहीं, हों! राग नहीं, विकल्प नहीं, लक्ष्मी नहीं, पुण्य नहीं, कुछ नहीं, फिर भी धनाढ्य आपकी प्रार्थना करते हैं। लक्ष्मीवाला आपकी प्रार्थना करता है। आप के पास जगत की लक्ष्मी नहीं। समझ में आया? ऐसी भगवान की स्तुति करते हुए अन्दर से हृदयोद्गार निकल गये हैं।

ओहो! आत्मा! तेरे पास कोई पुण्य-पाप है नहीं, फिर भी महा पुण्यवन्त प्राणी आपका आदर करते हैं। हे नाथ! आपके पास धन-लक्ष्मी कुछ है नहीं। समवसरण आदि हो तो उनके पास है? वह तो बाहर की चीज़ है। वे तो निरावलम्बी आत्मतत्त्व विराजमान है। आनन्दकन्द में विराजते हैं। ऐसे आत्मा के पास कोई विकल्प, राग, पुण्य, अन्दर में नहीं है। फिर भी धनाढ्य लक्ष्मीवाले इन्द्र आदि प्रभु! आपसे '**प्रारर्थितम्**' अर्थात् याचना करते हैं।

जिनका पार या अन्त कोई नहीं देख सका है.... प्रभु! आपका पार कोई देख सका नहीं। फिर भी **उन जिनेन्द्रदेव की शरण को प्राप्त होता हूँ।** आपका पार, अगाध समुद्र प्रभु आत्मा आपका पार नहीं ले सका। फिर भी मैं उसकी ही शरण लेता हूँ। मेरे शरण में अगाध परमात्मा तुम ही शरण में हो। वह कहते हैं न? अरहंता मंगलं नहीं आता? अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलपण्णत्तो धम्मो मंगलं। आता है न चार शरण में? वह तो व्यवहार से बात है। अरिहंता मंगलं। अपना आत्मा अरिहंता मंगलं है। राग और द्वेष को नाश करनेवाली ताकत अपनी आत्मा में है, वही अपना शरण और मांगलिक है। भगवान शरण देने को कोई आते नहीं। भगवान देने को आते हैं? मृत्यु के समय अरिहंत की शरण लो। क्या अरिहंत? बाहर का अरिहंत है? तेरा स्वभाव, विकाररूपी अरि को नाश करनेवाला भगवान आत्मा उसकी मुझे शरण हो।

मेरा स्वरूप निर्विकल्पोऽअहं शरणं पव्वज्जामि। आता है न? बौद्ध में कहीं आता है। बुद्धो शरणं पवज्जामि। उसका अर्थ क्या? वह बुद्ध नहीं। पूर्णानन्द प्राप्त आत्मा आनन्दकन्द बुद्धो शरणं पवज्जामि। अपना स्वभाव ज्ञानमय है, उसकी मैं शरण अंगीकार करता हूँ। दूसरे की शरण मेरे है नहीं।

भावार्थ :- हे भगवन्! आप बहुत ही गम्भीर.... बहुत गम्भीर अगाध। **धैर्यवान हैं। आपका कोई मन से भी चिन्तवन नहीं कर सकता। यद्यपि आपके पास देने के लिए कुछ भी नहीं है तो भी धनिक लोग (अथवा याचकवर्ग) आपसे याचना करते हैं;....** प्रभु! कुछ बोलिये, कुछ कहो, कुछ दीजिए। **आप सबके पार को जानते हैं, पर आपके पार को कोई नहीं जान सकता....** अनन्त ज्ञान अमर्यादित को और अपना द्रव्य का स्वभाव किसी भी तरह से पर्याय में पूर्ण प्रगट होता नहीं। द्रव्यस्वभाव आ जाये तो पर्याय एक समय की होती है। समझ में आया?

और आप जगत् के जीवों के प्रतिरक्षक हैं—ऐसा सोचकर मैं भी.... रक्षक तो निमित्त से कहते हैं, हों! अपना आत्मा अपनी निर्मल पर्याय का रक्षक है। तीन लोक का नाथ तो निमित्त के तौर पर रक्षक कहने में आते हैं। अपना द्रव्यस्वभाव सच्चिदानन्द पूर्ण आत्मा निर्विकल्पो अहं, ऐसा अपना स्वभाव अपनी निर्मल पर्याय का रक्षक है, दूसरा वास्तव में कोई रक्षक है नहीं।

काव्य ३६

त्रैलोक्यदीक्षागुरवे नमस्ते,
यो वर्धमानोऽपि निजोन्नतोऽभूत्।
प्राग्गण्डशैलः पुनरद्रिकल्पः,
पश्चान्न मेरुः कुलर्वतोऽभूत्॥

मेरु बड़ा-सा पत्थर पहले, फिर छोटा-सा शैलस्वरूप।
और अन्त में हुआ न कुलगिरि, किन्तु सदा से उन्नतरूप॥

इसी तरह जो वर्धमान है, किन्तु न क्रम से हुआ उदार।
सहजोन्नत उस त्रिभुवन गुरु को, नमस्कार है बारम्बार॥

अन्वयार्थ — (त्रैलोक्यदीक्षागुरवे ते नमः) त्रिभुवन के जीवों के दीक्षागुरुस्वरूप आपको नमस्कार हो, (यः) जो आप (वर्धमानः अपि) क्रम से उन्नति को प्राप्त होकर भी (निजोन्नतः) स्वयमेव उन्नत (अभूत्) थे। (मेरुः) मेरुपर्वत (प्राक्) पहले (गण्डशैलः) गोल पत्थरों का ढेर, (पुनः) फिर (अद्रिकल्पः) पहाड़ और (पश्चात्) फिर (कुलपर्वतः) कुलाचल (न अभूत्) नहीं हुआ था किन्तु स्वभाव से ही वैसा विशाल था।

भावार्थ — हे प्रभो! आप तीन लोक के जीवों के दीक्षागुरु हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो। इस श्लोक के द्वितीय पद में विरोधाभास अलङ्कार है। वह इस तरह कि आप अभी वर्धमान हैं, अर्थात् क्रम से बढ़ रहे हैं; फिर भी निजोन्नत अर्थात् अपने आप पहले से ही उन्नत थे।

जो चीज बढ़ रही है, वह पहिले उससे छोटी ही होती हैं, न कि बड़ी, पर यहाँ विपरीत बात है। विरोध का परिहार इस प्रकार है कि आप वर्धमान होकर भी स्वयमेव उन्नत थे; न कि क्रम-क्रम से उन्नत हुए थे क्योंकि मेरुपर्वत आज जितना उन्नत है, उतना उन्नत हमेशा से ही था, न कि क्रम-क्रम से उन्नत हुआ है। यहाँ वर्धमानपद श्लिष्ट है।

काव्य - ३६ पर प्रवचन

३६ (श्लोक)।

त्रैलोक्यदीक्षागुरवे नमस्ते,
यो वर्धमानोऽपि निजोन्नतोऽभूत्।
प्राग्गण्डशैलः पुनरद्रिकल्पः,
पश्चान्न मेरुः कुलपर्वतोऽभूत्॥

मेरु बड़ा-सा पत्थर पहले, फिर छोटा-सा शैलस्वरूप।
और अन्त में हुआ न कुलगिरि, किन्तु सदा से उन्नतरूप॥
इसी तरह जो वर्धमान है, किन्तु न क्रम से हुआ उदार।
सहजोन्नत उस त्रिभुवन गुरु को, नमस्कार है बारम्बार॥

अन्वयार्थ :- हे **त्रिभुवन के जीवों के दीक्षागुरु....** त्रिभुवन के जीवों के दीक्षागुरु परमात्मा व्यवहार से। और अपनी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की दीक्षा का गुरु द्रव्यस्वभाव। समझ में आया? **आपको नमस्कार हो, जो आप क्रम से उन्नति को प्राप्त होकर भी स्वयमेव उन्नत थे।** वास्तव में तो केवलज्ञान क्रम से नहीं होता, ऐसा कहना है। पहले भले थोड़ा-थोड़ा.... केवलज्ञान तो एक समय में एकदम होता है। एक समय में परमात्मदशा। थोड़ा केवल पहले हुआ, फिर थोड़ा हुआ, ऐसा होता नहीं। एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में अनन्त चतुष्टय चमकारा। अन्दर द्रव्यस्वभाव में जहाँ एकाकार हुआ तो एक ही समय में पूर्ण होता है। मेरु का दृष्टान्त देते हैं। **स्वयमेव उन्नत थे।**

मेरुपर्वत पहले गोल पत्थरों का ढेर, फिर पहाड़ और फिर कुलाचल नहीं हुआ था.... मेरुपर्वत तो ऐसा का ऐसा अनादि से उन्नत है। पहले छोटा था, फिर बड़ा हुआ, ऐसा मेरु में नहीं है। मेरुपर्वत लाख योजन का है न। पहले छोटा था, बाद में बड़ा हुआ है? ऐसा का ऐसा है। ऐसे हे नाथ! आपके केवलज्ञान और दर्शन जब प्रगट हुआ, ऐसा का ऐसा है। पहले थोड़ा हुआ, बाद में थोड़ा हुआ, ऐसा है नहीं। उसी प्रकार आत्मद्रव्य में पहले द्रव्य थोड़ी शक्तिवाला था और फिर बहुत शक्तिवाला हुआ, ऐसा आत्मद्रव्य में है नहीं। अनादि-अनन्त आत्मद्रव्य उन्नत ही है। मेरुपर्वत में उन्नतता अनादि से है, ऐसे चैतन्यद्रव्य की उन्नतता उसकी प्रकृति का स्वभाव अनादि से उन्नत है। ऐसे भगवान का मैं आदर और भक्ति करता हूँ।

भावार्थ :- हे प्रभो! आप तीन लोक के जीवों के दीक्षागुरु हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो। इस श्लोक के द्वितीय पद में विरोधाभास अलंकार है। वह इस तरह कि आप अभी वर्धमान हैं, अर्थात् क्रम से बढ़ रहे हैं; फिर भी निजोन्नत अर्थात् अपने आप पहले से ही उन्नत थे। अपने आप से पूर्ण दशा प्राप्त हुई।

जो चीज बढ़ रही है, वह पहिले उससे छोटी ही होती हैं, न कि बड़ी, पर यहाँ

विपरीत बात है। विरोध का परिहार इस प्रकार है कि आप वर्धमान होकर भी स्वयमेव उन्नत थे;.... बढ़ तो गये केवलज्ञान में। अर्थकार ने जरा दूसरा लिया है। ऋषभदेव की स्तुति चलती है न? इसलिए अन्त में यहाँ भगवान महावीर को लिया। इसलिए चौबीस (तीर्थंकर की) स्तुति बीच में पूरी हो जाती है। इस कारण यह वर्धमान लिये हैं। याद किये है। समझ में आया?

आप वर्धमान होकर भी स्वयमेव उन्नत थे;.... उन्नत हैं, स्वयमेव उन्नत हैं। पूर्णानन्द हैं। **न कि क्रम-क्रम से उन्नत हुए थे....** क्या कहा? आपके अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए हैं, वे क्रम-क्रम से प्रगट नहीं हुए। एकदम उछलकर सर्वज्ञ का ज्वार आपको आ गया है। उसी प्रकार मेरा आत्मा भी, अनादि से उन्नत ही है। वस्तु स्वभाव ऐसा ही पड़ा है। मेरी पर्याय में फेरफार हो, वह तो एक समय की दशा है। वस्तु जो त्रिकाल है, जिसकी शरण मुझे है, वह शरण तो अनादि से उन्नत ही है। उसमें कभी हीनाधिक होता नहीं। समझ में आया? **मेरुपर्वत आज जितना उन्नत है, उतना उन्नत हमेशा से ही था, न कि क्रम-क्रम से उन्नत हुआ है। यहाँ वर्धमानपद श्लिष्ट है।** उसके साथ मिलाया है।

काव्य ३७

स्वयंप्रकाशस्य दिवा निशा वा,
न बाध्यता यस्य न बाधकत्वम्।
न लाघवं गौरवमेकरूपं,
वन्दे विभुं कालकलामतीतम्॥

स्वयं प्रकाशमान जिस प्रभु को, रात-दिवस नहि रोक सका।
लाघव-गौरव भी नहिं जिसको, बाधक होकर टोक सका॥
एकरूप जो रहे निरन्तर, काल-कला से सदा अतीत।
भक्ति-भार से झुककर उसकी, करूँ वन्दना परम पुनीत॥

अन्वयार्थ — (स्वयं प्रकाशस्य यस्य) स्वयं प्रकाशमान रहनेवाले जिसके (दिवा निशा वा) दिन और रात की तरह (न बाध्यता, न बाधकत्वम्) न बाध्यता है और न बाधकपना भी। इसी प्रकार जिनके (न लाघवं गौरवम्) न लाघव है, न गौरव भी; उन (एकरूपम्) एकरूप रहनेवाले और (कालकलाम् अतीतम्) काल-कला से रहित अर्थात् अन्तरहित (विभुम् वन्दे) परमेश्वर की मैं वन्दना करता हूँ।

भावार्थ — स्वयं प्रकाशमान पदार्थ के पास रात और दिन का व्यवहार नहीं होता। प्रकाश के अभाव को रात कहते हैं और रात के अभाव को दिन कहते हैं। जो हमेशा प्रकाशमान रहता है, उसके पास अन्धकार न होने से रात का व्यवहार नहीं होता और जब रात का व्यवहार नहीं है, तब उसके अभाव में होनेवाले दिन का व्यवहार भी नहीं होता; उसी प्रकार आपमें भी बाध्यता और बाधक का व्यवहार नहीं है।

आप किसी को बाधा नहीं पहुँचाते, इसलिए आपमें बाधकत्व नहीं है और कोई आपको भी बाधा नहीं पहुँचा सकता, इसलिए आप बाध्य नहीं हैं। जिसमें बाध्य का व्यवहार नहीं, उसमें बाधक का भी व्यवहार नहीं होता और जिसमें बाधक का व्यवहार नहीं, उसमें बाध्य का व्यवहार नहीं हो सकता क्योंकि ये दोनों धर्म परस्पर सापेक्ष हैं। उसी प्रकार आपमें न लाघवत्व ही है और न गुरुत्व ही। आप इन दोनों सापेक्ष धर्मों से रहित हैं। आप अगुरुलघुरूप हैं। हे भगवन्! आप समय की मर्यादा से भी रहित हैं अर्थात् अनन्त काल तक ऐसे ही रहनेवाले हैं।

काव्य - ३७ पर प्रवचन

३७ (श्लोक)।

स्वयंप्रकाशस्य दिवा निशा वा,
न बाध्यता यस्य न बाधकत्वम्।
न लाघवं गौरवमेकरूपं,
वन्दे विभुं कालकलामतीतम्॥

स्वयं प्रकाशमान जिस प्रभु को, रात-दिवस नहि रोक सका।
लाघव-गौरव भी नहिं जिसको, बाधक होकर टोक सका॥
एकरूप जो रहे निरन्तर, काल-कला से सदा अतीत।
भक्ति-भार से झुककर उसकी, करूँ वन्दना परम पुनीत॥

अन्वयार्थ :- स्वयं प्रकाशमान रहनेवाले जिसके.... प्रभु! आप तो स्वयं प्रकाशमान हो। जिसको स्वयं प्रकाश है, उसको **दिन और रात की तरह न बाध्यता है....** विघ्न करनेवाला कोई रहता नहीं और पर से उसमें विघ्न होता नहीं। **न बाधकपना भी। इसी प्रकार जिनके न लाघव है, न गौरव भी;....** प्रभु! आप न लघु हो, न आप गुरु हो। आप तो अगुरुलघु स्वभाव (हो)। जैसा आत्मा का द्रव्यस्वभाव है, ऐसा पर्याय में अगुरुलघुस्वभाव आपको प्रगट हुआ है। मेरा आत्मा भी अनादि-अनन्त अगुरुलघु है। मेरे आत्मा में भी लघु और गुरु वस्तु स्वभाव में है नहीं। समझ में आया? शोभालालभाई! आत्मा... आत्मा। भगवान आत्मा नहीं लघु निगोद की पर्याय जैसा, नहीं गुरु सिद्ध की पर्याय जैसा। वह तो त्रिकाल चैतन्यकन्द ध्रुव द्रव्यस्वभाव तो ऐसा का ऐसा है। एक ही रूप है। उसमें दो रूप लघु या छोटा या बड़ा, ऐसा है नहीं।

एकरूप रहनेवाले और काल-कला से रहित अर्थात् अन्तरहित.... आपकी पर्याय प्रगट हुई। अब कोई काल लागू पड़े या मर्यादा आ जाये, (ऐसा नहीं है)। प्रगट हुई सो हुई, अनन्त काल ऐसी की ऐसी रहेगी। हे नाथ! आपको अनन्त चतुष्टय भगवन्त दशा प्रगट हुई, काल से अतीत है। अब काल की मर्यादा उसको लागू पड़ती नहीं। अनादि से तो अज्ञान था। जहाँ भान हुआ, उसके काल का अन्त ही नहीं है। सादि अनन्त... सादि अनन्त... जब से अनन्त ज्ञान प्रगट हुआ... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त काल रहेगा। वह कालातीत, काल-कला से अतीत है। समझ में आया?

इसी प्रकार द्रव्यस्वभाव अनादि-अनन्त काल-कला से पार है। उसको काल लागू नहीं पड़ता कि अनादि-सान्त पर्याय थी, सादि-सान्त साधकभाव था और सादि-अनन्त सिद्धभाव हुआ, ऐसे तीन प्रकार अपने स्वभाव में गुरु-लघुपना लागू पड़ता नहीं। लागू पड़ता नहीं, क्या कहते हैं? लागू हिन्दी भाषा है? ठीक।

भावार्थ :- स्वयं प्रकाशमान पदार्थ के पास रात और दिन का व्यवहार नहीं होता। प्रकाश के अभाव को रात कहते हैं और रात के अभाव को दिन कहते हैं। जो हमेशा प्रकाशमान रहता है, उसके पास अन्धकार न होने से रात का व्यवहार नहीं होता और जब रात का व्यवहार नहीं है, तब उसके अभाव में होनेवाले दिन का व्यवहार भी नहीं होता; उसी प्रकार आपमें भी बाध्यता और बाधक.... आप दूसरों को विघ्न करनेवाले, बाध्यता अर्थात् दूसरा आपको विघ्न करे, ऐसा व्यवहार नहीं है। आप तो ज्ञाता-दृष्टा पूर्णानन्द प्रभु किसी को विघ्न करनेवाले नहीं हो और किसी से विघ्न तेरे में हो, ऐसे आप नहीं हो। समझ में आया?

उसी प्रकार अपना द्रव्यस्वभाव किसी को बाधक नहीं है और उसमें कोई बाधा डाल दे अपने त्रिकाल स्वभाव में, ऐसी चीज़ है नहीं। समझ में आया? यह तो निरंजन परमात्मा की स्तुति चलती है। बाहर से भले भगवान के पास स्तुति की है, परमार्थ तो वह भक्ति है। लोगों को लगे कि मानों भगवान कुछ दे देंगे। तेरा आत्मा कहीं भगवान के पास है? तेरा आत्मा भगवान के पास है कि तुझे दे दे? तेरा तेरे पास पड़ा है। उसका उसके पास है। कुछ लेने-देने का व्यवहार है नहीं। व्यवहार काट दिया भगवान ने। हमारे साथ लेने-देने का व्यवहार है नहीं।

आप किसी को बाधा नहीं पहुँचाते, इसलिए आपमें बाधकत्व नहीं है और कोई आपको भी बाधा नहीं पहुँचा सकता, इसलिए आप बाध्य नहीं हैं। जिसमें बाध्य का व्यवहार नहीं, उसमें बाधक का भी व्यवहार नहीं होता और जिसमें बाधक का व्यवहार नहीं, उसमें बाध्य का व्यवहार नहीं हो सकता क्योंकि ये दोनों धर्म परस्पर सापेक्ष हैं। उसी प्रकार आपमें न लाघवत्व ही है और न गुरुत्व ही। हे परमात्मा! आपकी पर्याय तो निर्मलानन्द पूर्ण होकर अनन्त काल रहेगी। गुरु-लघुपना आपमें लागू पड़ेगा नहीं। मेरे द्रव्यस्वभाव में भी लघु-गुरु नहीं है। **आप इन दोनों सापेक्ष धर्मों से रहित हैं। आप अगुरुलघुरूप हैं।**

हे भगवन्! आप समय की मर्यादा से भी रहित हैं.... आत्मद्रव्य भी समय-समय की त्रिकाल वस्तु है। उसमें समय लागू पड़ता नहीं। भगवान के आनन्द की प्राप्ति में समय लागू नहीं पड़ता। **अनन्त काल तक ऐसे ही रहनेवाले हैं।**

काव्य ३८

इति स्तुतिं देव! विधाय दैन्यात्-
वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्
कश्छायया याचितयात्मलाभः॥

इस प्रकार गुण-कीर्तन करके, दीन भाव से हे भगवान।
वर न माँगता हूँ मैं कुछ भी, तुम्हें वीतरागी वर जान॥
वृक्षतले जो जाता है, उस पर छाया होती स्वयमेव।
छाँह याचना करने से फिर, लाभ कौनसा हे जिनदेव॥

अन्वयार्थ — (देव) हे देव! (इति स्तुतिम् विधाय) इस प्रकार स्तुति करके मैं (दैन्यात्) दीनभाव से (वरम् न याचे) वरदान नहीं माँगता क्योंकि (त्वम् उपेक्षकः असि) आप उपेक्षक हैं, राग-द्वेष से रहित हैं। अथवा (तरुम् संश्रयतः) वृक्ष का आश्रय करनेवाले पुरुष को (छाया स्वतः स्यात्) छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है; अतः (याचितया छायया कः आत्मलाभः) छाया की याचना से क्या लाभ है?

भावार्थ — हे भगवन्! मैं सर्प से डसे हुए मृतप्रायः लड़के को आपके सामने लाया हूँ, इसलिए स्तुति कर चुकने के बाद मैं आपसे यह वरदान नहीं माँगता कि आप मेरे लड़के को स्वस्थ कर दें क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप राग-द्वेष से रहित हैं; इसलिए न किसी को कुछ देते हैं और न किसी से कुछ लेते या छीनते ही हैं। स्तुति करनेवाले को तो फल की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है। जैसे, जो मनुष्य, वृक्ष के नीचे पहुँचेगा, उसे छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है; छाया की याचना करने से कोई लाभ नहीं होता।

काव्य - ३८ पर प्रवचन

३८।

इति स्तुतिं देव! विधाय दैन्यात्-
वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्
कश्छायया याचितयात्मलाभः॥

इस प्रकार गुण-कीर्तन करके, दीन भाव से हे भगवान।
वर न माँगता हूँ मैं कुछ भी, तुम्हें वीतरागी वर जान॥
वृक्षतले जो जाता है, उस पर छाया होती स्वयमेव।
छाँह याचना करने से फिर, लाभ कौनसा हे जिनदेव॥

मुमुक्षु : छाया मिल जाती है तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : छाया मिल जाती है, फिर... कहाँ? वह तो जाये वहाँ वृक्ष का घन वन है। वन घन। जिसमें वन का घन, समूह पड़ा है, वहाँ छाया है। माँगनी कहाँ है कि तू छाया देना।

इसी प्रकार अपने आत्मा में आनन्दस्वरूप है, ज्ञान से भरा (हुआ) उसकी दृष्टि करी तो आत्मा में छाया पड़ ही गयी। माँगना पड़ता नहीं, विकल्प करना पड़ता नहीं कि हे भगवान! मुझे प्राप्त हो, प्राप्त हो। वह तो अपने स्वभाव की दृष्टि हुई तो पर्याय में छाया आ गयी। द्रव्य का स्वभाव पर्याय में आंशिक प्रगट हो गया। ऐसे हे भगवन्!

अन्वयार्थ :- हे देव! इस प्रकार स्तुति करके मैं दीनभाव से वरदान नहीं माँगता.... वरदान—अभिलाषित फल। मुझे वर नहीं माँगना है, कोई दान नहीं माँगना है कि मुझे तुम दो। **क्योंकि आप उपेक्षक हैं,...** आप तो **राग-द्वेष से रहित हैं।** वीतराग हो। **अथवा वृक्ष का आश्रय करनेवाले पुरुष को छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है; अतः छाया की याचना से क्या लाभ है?** मिलने के बाद छाया की याचना से क्या लाभ? ऐसे भगवान आत्मा पूर्णानन्द के समीप में जहाँ दृष्टि पड़ी, (फिर) माँगने की कोई जरूरत

नहीं। समझ में आया? जो अपने आत्मा से भिन्न था, दूर था, राग, पुण्य, निमित्त की क्रिया में अपना लाभ मान रखा था, तब तो दूर था। पर अपना चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा आनन्दकन्द उसके समीप आया, माँगने की कोई आवश्यकता नहीं। चैतन्यप्रभु शक्ति में से व्यक्तता पर्याय में प्रगट हुए बिना रहती नहीं। माँगने की कोई इच्छा करने की जरूरत नहीं है। ग्रन्थकार थोड़ा कहते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन्! मैं सर्प से डसे हुए मृतप्रायः लड़के को आपके सामने लाया हूँ,.... सर्प ने डसा था न। बेहोश हो गया था। **इसलिए स्तुति कर चुकने के बाद मैं आपसे यह वरदान नहीं माँगता कि आप मेरे लड़के को स्वस्थ कर दें....** मेरी इच्छा नहीं है। समझ में आया? मैं तो आत्मा की स्तुति करता हूँ और आपकी स्तुति करता हूँ। जो होना होगा, वह होगा। मुझे कोई वरदान माँगना नहीं है। क्यों? **क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप तो राग-द्वेष से रहित हैं; इसलिए न किसी को कुछ देते हैं और न किसी से कुछ लेते या छीनते ही हैं।** 'शिवपद अमने देजो, देजो रे महाराज' भगवान के पास माँगता है न? हे भगवान! हमें मोक्षपद देना। तेरा मोक्षपद वहाँ कहाँ है? मोक्षपद तो तेरे में पड़ा है। अन्दर शक्ति—स्वभाव तो तेरा मोक्ष ही है। स्वयं भगवान आत्मा मोक्षस्वरूप द्रव्यस्वभाव है। अपनी पर्याय जहाँ द्रव्यस्वभाव के साथ मिला दी, माँगने की जरूरत नहीं है। उस पर्याय में निर्मलता प्रगट होती... होती... होती है। कोई विकल्प करने से या ऐसी क्रिया करने से प्राप्त होती है, ऐसी कोई चीज़ है नहीं। समझ में आया?

न किसी से कुछ लेते या छीनते ही हैं। स्तुति करनेवाले को तो फल की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है। जैसे, जो मनुष्य, वृक्ष के नीचे पहुँचेगा, उसे छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है; छाया की याचना करने से कोई लाभ नहीं होता। यह आज ही पूरा कर देना है न। आठ दिन का विषापहार था। कल दोपहर को और अलग चलेगा। कल दोपहर को तो आलोचना है न? दोपहर को पद्मनन्दि (पंचविंशति) चलेगी। एक दिन, हों! परसों से कुछ विचारकर करेंगे। मोक्षमार्ग (प्रकाशक)। ३९ बोलो।

काव्य ३९

अथास्ति दित्सा यदि वोपरोधः-
त्वय्येव सक्तां दिश भक्तिबुद्धिम्।
करिष्यते देव! तथा कृपां मे,
को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः॥

यदि देने की इच्छा ही हो, या इसका कुछ आग्रह हो।
तो निज चरण-कमल-रत निर्मल, बुद्धि दीजिये नाथ अहो॥
अथवा कृपा करोगे ही प्रभु, शङ्का इसमें जरा नहीं।
अपने प्रिय सेवक पर करते, कौन सुधीजन दया नहीं॥

अन्वयार्थ — (अथ दित्सा अस्ति) यदि आपकी कुछ देने की इच्छा है (यदि वा) अथवा वरदान माँगो, ऐसा (उपरोधः अस्ति) आग्रह है तो (त्वयि एवं सक्ताम्) आपमें लीन (भक्तिबुद्धिम्) भक्तिमयी बुद्धि (दिश) प्रदान करो। मेरा विश्वास है कि (देव) हे देव! आप (मे) मुझ पर (तथा) वैसी (कृपाम् करिष्यते) दया करेंगे। (आत्मपोष्ये) अपने द्वारा पोषण करने के योग्य शिष्य पर (को वारि सूरिः) कौन पण्डित पुरुष (सुमुखो न भवति) अनुकूल नहीं होता ? अर्थात् सभी होते हैं।

भावार्थ — हे नाथ! यदि आपकी कुछ देने की इच्छा है तो मैं आपसे यही चाहता हूँ कि मेरी भक्ति आप में ही रहे।

मेरा विश्वास है कि आप मुझ पर अपनी कृपा अवश्य करेंगे क्योंकि विद्वान् पुरुष अपने आश्रित रहनेवाले शिष्य की इच्छाओं को पूर्ण ही करते हैं।

काव्य - ३९ पर प्रवचन

---

३९ (श्लोक)।

अथास्ति दित्सा यदि वोपरोधः-
त्वय्येव सक्तां दिश भक्तिबुद्धिम्।

करिष्यते देव! तथा कृपां मे,
को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः ॥

यदि देने की इच्छा ही हो, या इसका कुछ आग्रह हो।
तो निज चरण-कमल-रत निर्मल, बुद्धि दीजिये नाथ अहो ॥
अथवा कृपा करोगे ही प्रभु, शङ्का इसमें जरा नहीं।
अपने प्रिय सेवक पर करते, कौन सुधीजन दया नहीं ॥

भगवान को तो क्या इच्छा है ? परन्तु स्वयं अपने स्वभाव की माँग करते हैं अन्दर में। आत्मद्रव्य आप तो कृपा करोगे ही। मेरी दृष्टि लगा दी आत्मद्रव्य में, कृपा किये बिना नहीं रहता। मैं निःशंक हूँ कि आप कृपा करनेवाले आत्मद्रव्य हो। समझ में आया ?

मुमुक्षु : पक्का बनिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बनिया पक्का है, आत्मव्यापारी। क्या कहते हैं, देखो!

हे प्रभो! आग्रह और अनुरोध आपका हो। अनुरोध। आप में लीन भक्तिमय भगवान शिवपद दो, बस! मुझे दूसरा कुछ नहीं चाहिए। मैं दूसरा कोई वरदान नहीं माँगता। प्रभु! मैं तो मेरे स्वरूप में लीन होऊँ, यही मेरी प्रार्थना है। आपकी भक्ति अर्थात् स्वरूप की भक्ति में लीन होऊँ, यही मेरी प्रार्थना है। दूसरा कोई वर मुझे नहीं माँगना है कि अमुक चीज़ दो कि मनुष्यपना मिले, स्वर्ग मिले फिर भगवान के पास जायें, वहाँ भगवान के पास धर्म मिलेगा, वह सब बात झूठी है। समझ में आया ? मैं कुछ नहीं माँगता हूँ। प्रभु! आपकी अनुरोधता हो, मेरी भावना में आपका अनुरोध है, ऐसा मैं उपचार से कहता हूँ। आपका अनुरोध हो, ऐसा मेरी भावना में आता है। आपको तो अनुरोध है नहीं, आपको इच्छा है नहीं। तो प्रभु! मेरी स्वरूप में लीनता हो जाओ, यह मैं आपसे माँगता हूँ। दूसरा कुछ मैं नहीं माँगता। समझ में आया ?

मेरा विश्वास है.... मेरा विश्वास है। **हे देव!** देखो! अन्तिम श्लोक है। **आप मुझ पर वैसी दया करेंगे।** आपके केवलज्ञान में भी मेरी परिणति निर्मल हो गयी है, होनेवाली है और केवलज्ञान मुझे प्राप्त होगा, वह आपके केवलज्ञान में आ गया है। आपके केवलज्ञान में आ गया है और मेरे ज्ञान में भी आ गया है। मेरे द्रव्यस्वभाव में पड़ा हूँ

आदर करके, तो मेरा विश्वास है। श्रीमद् में नहीं आता? 'जो पद सर्वज्ञे....' आता है न? क्या है वह?

यही परमपद पाने को धर ध्यान जब,
यही परमपद पाने को धर ध्यान जब,
शक्तिविहीन अवस्था मनोरथरूप जब,
तो भी निश्चय राजचंद्र के मन रहा,
प्रभु आज्ञा से होऊँ वही स्वरूप जब,
अपूर्व अवसर ऐसा किसदिन आयेगा?

एक श्रीमद् राजचन्द्र हुए हैं। राजचन्द कवि कहलाते हैं न? ३३ वर्ष में देह छूट गयी। २९-३० वर्ष में ऐसे यह २१ श्लोक बनाये थे। उसमें ऐसा आया कि हे नाथ! 'यही परमपद प्राप्ति का किया ध्यान में' परन्तु वर्तमान में 'शक्तिविहीन मनोरथरूप जो' मेरे आत्मा की दृष्टि मुझे हुई है और मुझे विश्वास नि:शंकता है 'प्रभु आज्ञा से होऊँ वही केवलज्ञानस्वरूप जो...' अपने आत्मा का भरोसा अन्दर में आया, मैं सम्यक् प्राप्त हुआ, मैं अल्प काल में केवलज्ञानी होऊँगा। मुझे शंका है ही नहीं। शंका नहीं है मुझे कि कब होगा और क्या होगा? ऐसा सम्यग्दृष्टि अपनी भक्ति आत्मा में करता है तो आत्मा में से ऐसी भणकार आता है। शोभालालभाई! समझ में आया यह? अरे रे! क्या हो? कहाँ जाना? पामर है? प्रभु की भक्ति तुझे आती नहीं।

प्रभु आत्मा सच्चिदानन्द भगवान निर्विकल्प आनन्द 'उदासीनो अहं, परमानंदो अहं' उसकी जिसको दृष्टि और विश्वास है, अल्प काल में परमात्मा हो जाऊँगा। मेरी परमात्मा की पर्याय प्राप्ति में कोई विघ्न डालनेवाला है नहीं। समझ में आया? क्या होगा? नहीं, मुझे विश्वास है। क्यों? **मुझ पर वैसी दया करेंगे। अपने द्वारा पोषण करने के योग्य शिष्य पर कौन पण्डित पुरुष अनुकूल नहीं होता?** अपने शिष्य का पोषण करने में उसका कौन गुरु हो कि पोषण न करे? ऐसे अपनी पर्याय शिष्य है और अपना द्रव्य है, वह गुरु है। अपनी निर्मल पर्याय जो सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान हुआ, वह शिष्य है। गुरु त्रिकाल द्रव्य है। ऐसा कौन गुरु है कि अपनी पर्याय में पोषण न दे? परिपूर्ण

पोषण देनेवाला है, मुझे विश्वास हो गया है। आप ही द्रव्य में से परिपूर्ण मैं प्राप्त करूँगा, उसमें शंका-फंका है नहीं। देखो! यह भक्ति। ऐसे अकेली भक्ति करे और समझे नहीं कुछ। समझ में आया? इसे भक्ति कहते नहीं।

भावार्थ :- हे नाथ! यदि आपकी कुछ देने की इच्छा है तो मैं आपसे यही चाहता हूँ कि मेरी भक्ति आप में ही रहे। मेरा विश्वास है.... कि मेरी भक्ति जो आत्मद्रव्य पर पड़ी है, उस भक्ति में कभी विघ्न नहीं होगा। स्वरूप की दृष्टि मेरी अप्रतिहत हुई है। वह पीछे हटे, ऐसा मेरे में है नहीं। परमात्मा अल्प काल में होऊँगा, ऐसा मेरा विश्वास है। देखो! यह सम्यग्दृष्टि की धर्म की भक्ति का विश्वास। वह कहे, हे भगवान! क्या होगा? कहाँ जाऊँगा? कितने जन्म-मरण? मूर्ख है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हो गयी उसे आत्मा में से। समझ में आया? पुण्य और पाप के राग रहित भगवान आत्मा, उसकी अन्तर रुचि, दृष्टि परिणति हुई, आज्ञा हो गयी कि अल्प काल में मैं परमात्मा हो जायेगा। मेरा विश्वास है, ऐसा कहते हैं देखो!

क्योंकि विद्वान् पुरुष अपने आश्रित रहनेवाले शिष्य की इच्छाओं को पूर्ण ही करते हैं। आप अवश्य कृपा करेंगे और अवश्य मेरे आत्मद्रव्य में से पूर्ण पर्याय प्राप्त होगी, मेरा विश्वास है। अन्तिम ४०वाँ।

काव्य ४०

वितरति विहिता यथाकथञ्चिज्जिन,
विनताय मनीषितानी भक्तिः।
त्वयि नुतिविषया पुनर्विशेषाद्दिशति,
सुखानि यशो धनञ्जयं च॥

यथाशक्ति थोड़ी-सी भी, की हुई भक्ति श्री जिनवर की।
भक्तजनों को मन चाही, सामग्री देती जगभर की॥

इससे गुँथी गई स्तवन में, यह विशेषता से रुचिकर।
'प्रेमी' देगी सोख्य सुयश को, तथा धनञ्जय को शुचितर॥

अन्वयार्थ — (जिन) हे जिनेन्द्र! (यथाकथञ्चित्) जिस किसी तरह थोड़ी भी (विहिता) की गयी (भक्तिः) भक्ति (विनताय) नम्र मनुष्य के लिए (मनीषितानि) इच्छित वस्तुएँ (वितरित) देती है, (पुनः) फिर (त्वयि) आपके विषय में की गई (नुतिविषया) स्तुतिविषयक भक्ति (विशेषात्) विशेषरूप से (सुखानि) सुख, (यशः) कीर्ति, (धनम्) धन-सम्पत्ति (च) और (जयम्) जीत को (दिशति) देती है।

भावार्थ — हे भगवन्! आपकी भक्ति से सुख, यश, धन तथा विजय आदि की प्राप्ति होती है।

काव्य - ४० पर प्रवचन

अन्तिम ४०वाँ।

वितरति विहिता यथाकथञ्चिज्जिन,
विनताय मनीषितानी भक्तिः।
त्वयि नुतिविषया पुनर्विशेषाद्दिशति,
सुखानि यशो धनञ्जयं च॥

पवित्रता और .... साथ ही ऐसा कहते हैं। प्रार्थनादि किस प्रकार की की है, देखा!

यथाशक्ति थोड़ी-सी भी, की हुई भक्ति श्री जिनवर की।
भक्तजनों को मन चाही, सामग्री देती जगभर की॥
इससे गुँथी गई स्तवन में, यह विशेषता से रुचिकर।
'प्रेमी' देगी सोख्य सुयश को, तथा धनञ्जय को शुचितर॥

अन्वयार्थ :- हे जिनेन्द्र! जिस किसी तरह थोड़ी भी की गयी भक्ति.... सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र किसी भी प्रकार से (करे ले) भक्ति नम्र मनुष्य के लिए.... विनयवन्त के लिये इच्छित वस्तुएँ देती है, फिर आपके विषय में की गई स्तुतिविषयक भक्ति....

अन्तर के स्वभाव की भक्ति। आपका लक्ष्य लिया कि आप सिद्ध हुए हैं और मैं भी सिद्ध होनेवाला हूँ, ऐसा मेरा द्रव्यस्वभाव का अनुभव हुआ तो कहते हैं कि **स्तुतिविषयक भक्ति विशेषरूप से सुख,....** वह सुख आत्मा का और बाह्य पुण्य। धर्मी को पुण्य ऐसा हो जाता है कि जिसमें सौ कलशी अनाज हो, कलशी कहते हैं ? क्या कहते हैं तुम्हारी हिन्दी में ? सौ खाण्डी- खाण्डी। सौ खाण्डी अनाज हो तो उसमें सौ गाड़ी घास होती है। घास, घास होती है न ? कुलचा बोलते हैं। सौ खाण्डी घास हो और कुलचा कमजोर हो, ऐसा नहीं होता।

इसी तरह भगवान! आपकी भक्ति की श्रद्धा और दृढ़ता में मैं पड़ा हूँ और थोड़ा राग रह गया है, वह तो कुचा। उसमें से तीर्थंकर मैं होऊँगा और इन्द्र मैं होऊँगा, ऐसा कहते हैं। नवनीतभाई! और मेरी पवित्रता तो मेरे अन्तर के आश्रय से प्रगट होगी। मेरी पवित्रता भी पूर्ण और मेरा पुण्य भी पूर्ण। प्रभु! आपकी भक्ति में क्या कमी होगी ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

हे जिनेन्द्र! आपकी की गयी भक्ति इच्छित वस्तुएँ (देती है), **फिर आपके विषय में की गई स्तुतिविषयक भक्ति विशेषरूप से सुख, कीर्ति,....** ओहोहो! **धन-सम्पत्ति और जीत को देती है।** भाई! अन्तिम जीत शब्द है। मांगलिक है। हमारा हमारी जीत का नगाड़ा बजा। अन्तिम जय मंगल में जीत शब्द प्रयोग किया है। देखो! **जीत को देती है।** हे भगवान! आपकी भक्ति से सुख, यश, धन और विजय। हमें विजय की प्राप्ति होती है, वह आपकी भक्ति का फल निमित्त से है। अपने स्वरूप की भक्ति उपादान से है। अन्तर की परिणति शुद्ध होगी और बाहर में पुण्य का गंज मेरे में होगा कि आपके पास समवसरण है, ऐसा समवसरण मेरा होगा। ऐसी मान्यता में जोर से कहते हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)